



ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2018; 4(1): 502-504
www.allresearchjournal.com
Received: 17-11-2017
Accepted: 19-12-2017

मनोज कुमार पंडित
गम्हरिया, मरौना, निर्मली, सुपौल,
बिहार, भारत

जनजातीय आन्दोलन का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर प्रभाव

मनोज कुमार पंडित

सारांश

जनजातीय आन्दोलनों की पृष्ठ भूमि के माध्यम से स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान उन तमाम कारणों को उजागर किया गया है जिसके लिए अंग्रेजी हुकुमत जिम्मेदार थी। अंग्रेजों के द्वारा निरन्तर जनजातीय लोगों पर किये गये शोषण के कारण इन लोगों में विद्रोह की भावना फैली जिसके कारण स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए विभिन्न चरणों में जनजातीय आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ।

छोटानागपुर में अंग्रेजों का प्रवेश 1967 ई० में हुआ। इस प्रक्रिया को पूर्ण होने में सात दशक लगे जब 1837 ई० में सिंहभूम के कोलहान क्षेत्र पर कम्पनी-सरकार की सत्ता निश्चित रूप से स्थापित हुई।

प्रस्तावना

छोटानागपुर-खास, पलामू, हजारीबाग, मानभूम तथा संथाल परगना में भी जहाँ अंग्रेजी सत्ता की स्थापना जल्दी ही हो गयी थी, स्थिति सामान्य नहीं थी। प्रारंभ से ही वहाँ कभी व्यापक तो कभी छिट-फुट रूप से कम्पनी शासन के विरुद्ध गड़बड़ी होती रही। वस्तुतः सम्पूर्ण झारखंड में अभी भी अंग्रेजों को निकाल बाहर करने की एक क्षीण आशा बनी हुई थी। कम्पनी शासन के विरुद्ध व्याप्त असंतोष के कई कारण थे।

सर्वप्रथम, 141 ई० में आरम्भ होने वाले मराठा-आक्रमणों का सिलसिला 1803 ई० तक चलता रहा। इन आक्रमणों के फलस्वरूप फैली अराजकता ने झारखंड निवासियों को अंग्रेजों का विरोध करने के लिए प्रोत्साहित किया।

द्वितीयतः, पलामू के जयनाथ सिंह, छोटानागपुर-खास के दर्पनाथ शाह, रामगढ़ के मुकुन्द सिंह, ढालभूम के जगन्नाथ ढाल तथा संथाल परगना के जमींदार आदि ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें कम्पनी सरकार ने उनके प्रभाव क्षेत्र से उखाड़ दिया था। ऐसे लोग कम्पनी सरकार के विरुद्ध लोगों को भड़काने का निरन्तर प्रयास करते रहे।

तृतीयतः, मराठा-आक्रमणों, विभिन्न राजाओं एवं जमींदारों द्वारा फैलाई गई गड़बड़ियों और बार-बार फौजों के आने-जाने से झारखंड के अधिकांश भाग उजाड़ पड़ गये थे। आर्थिक कठिनाई एवं अन्नाभाव में जनता का विद्रोही हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। जनता के अतिरिक्त कुछ राजा-जमींदार भीय जैसे पलामू का गोपाल राय और ढालभूम का जगन्नाथ ढाल बार-बार की गड़बड़ियों के कारण दरिद्र हो गये थे। कम्पनी की निरन्तर बढ़नेवाली मांग के कारण इनकी आर्थिक कठिनाई बढ़ी थी। इनके अधीनस्थ जागीरदार तथा बड़े किसान इनकी कमजोरी का लाभ उठाकर प्रायः स्वतंत्र हो गये थे और मालगुजारी भरना बंद कर दिया था। बार-बार अकाल पड़ने के कारण लोगों को कष्ट होता था। सन् 1770, 1777 और 1800 ई० में घोर अकाल के चलते झारखंड के कई भाग उजाड़ पड़ गये। रोजी-रोटी की तलाश में अनेक झारखंडी घर-द्वार छोड़कर सुरगुजा, मिर्जापुर, दक्षिण तथा अन्य सीमावर्ती प्रदेशों में चले गये। जो कहीं नहीं जा सके, कम्पनी सरकार के विरुद्ध हथियार उठाने को बाध्य हुए।

कम्पनी-शासन की स्थापना के बाद छोटानागपुर के राजाओं तथा जमींदारों के बीच राज्यों तथा जमींदारियों की सीमाओं को लेकर विवाद उठ खड़े हुए। इन विवादों को निपटाने में कम्पनी के अधिकारी पूरी तरह असफल रहे। इससे भी गड़बड़ी फैली।

चतुर्विध व्याप्त असंतोष का एक कारण यह भी था कि कम्पनी राजाओं और जमींदारों की उपेक्षा कर किसानों से सीधा बन्दोबस्त कर रही थी। बकाया मालगुजारी के नाम पर किसानों की जमीन और जमींदारों की जमींदारी छीनी जा रही थी। वस्तुतः कम्पनी सरकार और झारखंड के राजाओं, जमींदारों और जागीरदारों के बीच मालबंदी और वसूली के झगड़े अनवरत चल रहे थे। राजस्व की वसूली के लिए बार-बार सैनिकों का भेजा जाना (सजावल) जमींदारों और रैयतों दोनों को समान रूप से नागवार था। स्थिति तब विस्फोटक हो उठी जब बकाया मालगुजारी के लिए ऐतिहासिक राज्यों की नीलामी बोली जाने लगी, जैसे-पलामू का चैरो राज्य।

Corresponding Author:
मनोज कुमार पंडित
गम्हरिया, मरौना, निर्मली, सुपौल,
बिहार, भारत

सन् 1813 ई० में ऐतिहासिक चेरों-राजवंश के अंतिम शासक चूडामणि राय को बकाया मालगुजारी की अदायगी न कर पाने के कारण गद्दी से उतार दिया गया।

व्यापक असंतोष के कुछ प्रशासकीय कारण भी थे। सरकारी पदाधिकारी अधिकांश गैर-झारखंडी थे। इन तक पहुँचना साधारण आदमी के लिए कठिन था। सरकारी कचहरियों में न्याय-प्रक्रिया धीमी एवं प्रभावहीन थी। प्रभावशाली लोग प्रायः कचहरी में उपस्थित ही नहीं होते थे और अपने विरुद्ध हुए फ़ैसलों को लागू ही नहीं होने देते थे। सरकारी आदेश को मनवाने के लिए प्रायः फौज आती थी इससे सामान्य जन के मन में सरकार के विरुद्ध घृणा का उद्रेक होता था। सरकार ने झारखंड में पुलिस-प्रशासन अपने हाथ में ले लिया था, किन्तु विभाग पर होने वाला खर्च स्थानीय राजाओं तथा जमींदारों को उठाना पड़ता था। पुलिस विभाग पर यह दैह्य-नियंत्रण राजाओं-जमींदारों के लिए अरुचिकर था और इस वजह से वे अत्यधिक असंतुष्ट थे। पुलिस-प्रशासन की नई व्यवस्था आदिवासियों में भी अलोकप्रिय थी और इससे उनका असंतोष घटने की जगह बढ़ा रही। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि बकाया मालगुजारी के लिए नीलामी की सरकारी नीति के कारण राजा-जमींदार वर्ग खार खाये बैठा था। फलस्वरूप विद्रोह की एक सहज-स्वाभाविक भावना झारखंड के जमींदारों-जागीरदारों में व्याप्त थी। वस्तुतः दीवानी तथा फौजदारी, दोनों प्रकार के मामलों में पदाधिकारी कानून की भावना से अधिक कानून के शब्द पर जोर देते थे। संक्षेप में, झारखंड में कम्पनी की शासन-व्यवस्था का दोष था कि एक विशाल भू-क्षेत्र पर यहाँ की स्थिति से कम वाकिफ अधिकारी एक संकुल कानूनी व्यवस्था को लादने की कोशिश कर रहे थे। आदिवासी इसलिए भी असंतुष्ट थे कि सभी सरकारी कर्मचारी गैर-झारखंडी और अधिकांशतः बिहार अथवा बंगाल के थे। फलस्वरूप कम्पनी-शासन के आरंभ से ही झारखंड में असंतोष के स्पष्ट लक्षण दिखलाई पड़ने लगे थे। इस तरह कम्पनी-शासन के प्रथम पाँच दशकों में ही अनेक छोटे-बड़े विद्रोह हुए, यद्यपि सबसे बड़ा विद्रोह 1831-32 ई० में कोल-विद्रोह के रूप में हुआ।

असंतोष का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी था। प्राचीन काल से ही जनजातियों का वाह्य संस्कृतियों से कभी विरोधात्मक तो कभी सहयोगात्मक सम्पर्क रहा था। उत्तरी भारत से आर्यों द्वारा निष्कासित होने के बाद दीर्घकाल तक दोनों के बीच स्नेह और घृणा का संबंध रहा था। धीरे-धीरे एक सामंजस्य स्थापित हो गया था। किन्तु अंग्रेजों के आगमन से उनका सम्पर्क एक आक्रमक संस्कृति से हुआ। फलस्वरूप उनकी पहचान, संस्कृति तथा सम्पर्क एक आक्रमक संस्कृति से हुआ। फलस्वरूप उनकी पहचान, संस्कृति तथा स्वतंत्रता के लिए एक नया खतरा उत्पन्न हो गया था जिसकी उनमें सहज स्वाभाविक विरोधात्मक प्रतिक्रिया हुई। औपनिवेशिक व्यवस्था जनजातियों के लिए नई त्रासदी सिद्ध हुई। अनुपातिक एकात्मकता, भूमि-स्वामित्व और सामाजिक संरचना की तुलनात्मक अक्षुण्णता के कारण किसानों सहित किसी भी अन्य वर्ग की तुलना में उनके अधिक व्यापक और हिंसक विद्रोह हुए। इन विद्रोहों को साधारणतः आकस्मिक घटनाओं की संज्ञा दी गयी है। वस्तुतः ये विद्रोह न होकर आन्दोलन थे जिनका जनजातीय सामाजिक संरचना से सीधा संबंध था।

“सन् 1786 ई० में लॉर्ड कार्नवालिस ब्रिटिश पार्लियामेंट का स्पष्ट निर्देश लेकर भारत आया कि मालबंदी तथा वसूली-संबंधी वह स्थायी कानून बनाये। उसका दृष्टिकोण स्पष्ट था-जमींदारों का उसके द्वारा खड़ा किया गया नया वर्ग कलकत्ता स्थित दीवान के प्रति वफादार हो न कि दिल्ली के बादशाह या मुर्शिदाबाद के नवाब के प्रति। स्थायी बंदोबस्त के बाद जमींदार शब्द विभिन्न भूमिगत स्वार्थों का पर्यायवाची रह ही नहीं गया। इस तरह ताल्लुकदार, राजा तथा महाराजा सभी अब जमींदार मात्र बन कर

रह गये। स्थायी बंदोबस्त समर्पित तथा मिलकियत-संबंधी ब्रिटिश और जनजातीय अवधारणाओं के बीच संघर्ष का प्रतीक था। अंग्रेजों के लिए निजी सम्पत्ति एक प्राकृतिक एवं अपरिहार्य अधिकार था। यह प्रकृति के नियम के अनुकूल था। किन्तु आदिवासी के लिए प्रकृति ही कानून थी। पेड़ों और नदी-नालों की तरह भूमि भी उसके लिए प्रकृति की देन थी। उसे भूमि के उपभोग का उसी तरह अधिकार था जैसे हवा में सांस लेने का। जनजातीय अर्थव्यवस्था अभी वस्तु-विनियम पर आधारित थी। मुद्र-प्रसार अभी भी सीमित था। स्वभाव से ही आदिवासी अपनी तत्काल आवश्यकताओं से आगे की बात नहीं सोचता था। बचत अथवा संचय की बात वह सोचता ही नहीं था। जंगलपुत्रों के लिए उत्पादन के तरीकों तथा साधनों पर एकाधिकार की अवधारणा अस्वाभाविक थी। पैला आवश्यकताओं और संतोष का वास्तविक मापदंड था। इस सीमित, प्रतिद्वन्द्विता-रहित, आवश्यकता-आधारित तथा उत्पादन निरपेक्ष अर्थव्यवस्था में पूंजी-निवेश तथा साधन संचय-जैसी अवधारणाएं थी ही नहीं। आदिवासी कल की चिंता नहीं करता था। न ही उसे भावी पीढ़ियों की आजीविका की चिंता थी। पहले भी उस पर प्रकृति की कृपा रही, भावी पीढ़ियों पर भी रहेगी। आखिर विभिन्न बोंगा थे किस लिए? यदि उसके वंशज बोंगाओं को बलि चढ़ाते रहेंगे पाहन, महतो और पुजारी अपना कर्तव्य निभाते रहेंगे तो उन पर सिंगबोंगा की कृपा भी अवश्य बनी रहेगी। आदिवासी के जीवन में भविष्य की चिंता के लिए कोई स्थान ही नहीं था। वह केवल आज ही जीता थाय प्रत्येक दिन उसका सम्पूर्ण जीवन काल था। किन्तु स्थायी बंदोबस्त ने एक ही कलम में उसके जीवन में बहुत कुछ बदल दिया। जमींदारों की जो राज्य के लिये करों की वसूली करते थे, भूमि में सीमित मालिकाना अधिकार मिले थे। निजी सम्पत्ति का अधिकार मिलने से उनसे उम्मीद की जाती थी कि वे भूमि तथा श्रम के पूर्ण उपभोग द्वारा उत्पादन में वृद्धि के अतिरिक्त पूंजी-संचय को बढ़ावा देंगे। वे उत्पादक को बेदखल नहीं कर सकते थे, क्योंकि इससे ग्रामीण समाज में अस्थिरता आती। कृषि-उत्पाद के औपनिवेशिक शोषण में भी इससे बाधा पड़ सकती थी। अतः उत्पादक की ओर से हस्तक्षेप का अधिकार राज्य ने अपने पास रखा था। फिर भी नई व्यवस्था में आदिवासी कृषक जमींदारों की दया से आश्रित हो गये थे। जमींदार उन्हें गैर कानूनी कर देने तथा बेगार के लिए बाध्य करते थे। औपनिवेशिक बोझ के वहन के लिए न केवल कृषि-उत्पाद का अधिकांश निकल जा रहा था, बल्कि आदिवासी कृषक पर अतिरिक्त बोझ भी बढ़ता जा रहा था। जमींदारों का नया वर्ग उत्पादन-प्रक्रिया का अभिन्न अंग अब नहीं रह गया था। नये भूमि कानूनों का लाभ उठा कर कलकत्ता तथा बनारस के पूंजीपति जमींदारों के वर्ग शामिल हो रहे थे। पुराने जमींदारों के कर्ज में डूब जाने के कारण ये लोग व्यावसायिक लाभ के लिए उनकी जमींदारी खरीद रहे थे। छोटे तथा मंझोले किसानों का उपयोग ये राजस्व वसूली के लिए कर रहे थे। मालगुजारी के बढ़ जाने से पुराने जमींदार तथा उनके रैयत, दोनों ही परेशान थे। झारखंड के किसानों का पहले भी मुश्किल से गुजारा चलता था। अब बढ़े हुए कर की अदायगी के लिए उन्हें साहुकारों, जमींदारों अथवा धनाढ्य किसानों से कर्ज लेना पड़ता था। वस्तुतः उनकी अर्थ-व्यवस्था इतनी कमजोर थी कि एक भी प्राकृतिक अथवा मानव-रचित आपदा उन्हें त्रस्त कर देती थी। इससे भूखमरी बढ़ती थी। कृषक-वर्ग एक अभूतपूर्व मृत्यु-जाल में फँस गया था।

स्थायी बंदोबस्त से आदिवासी का जंगल से संबंध भी बदल गया। आदिवासी भोजन, जलावन और चारा के लिए जंगल पर निर्भर रहे थे। कृषियोग्य भूमि के कम पड़ जाने पर वे झूम-कृषि के लिए जंगल की भूमि का उपयोग करते रहे थे। स्थायी बंदोबस्त से जंगल की भूमि तथा उत्पाद के अतिरिक्त गाँव की गैरमजरुआ जमीन पर भी प्रतिबंध लग गया। उससे कृषियोग्य भूमि का

विस्तार भी रुक गया। इसी समय गाँव के महाजन तथा साहुकार की जड़ें भी मजबूत होने लगीं। नई व्यवस्था मुद्रा-निवेश, पूंजी-संचय और उत्पादन के साधनों के स्वामित्व पर आधारित थी। आदिवासी किसान नई व्यवस्था की बारीकियों को समझता ही नहीं था। आत्म-निर्भरता का उसका छोटा संसार उजड़ चुका था। पुरातन अर्थ-व्यवस्था और औपनिवेशिक मुद्रा आधारित अर्थ-व्यवस्था, आत्मनिर्भरता और सतत मांग, पैला और तराजू की उस लड़ाई में तराजू की विजय हो गई थी। आदिवासी इस पराजय का बदला लेना चाहता था। वस्तुतः आदिवासियों ने किसी भी वाह्य सत्ता को कभी स्वीकार ही नहीं किया था। स्थानीय राजागण उनकी अपनी उपज थे। उनके शासन में न तो कोई संघर्ष था और न कोई विरोधाभास। किन्तु वे यह न समझ सके कि अंग्रेज आखिर कहां से आ टपके थे और उनकी सत्ता का आधार क्या था। उसी तरह जमींदारों द्वारा उनकी जमीन तथा अधिकारों के अपहरण का कोई औचित्य भी उन्हें नहीं दिखायी पड़ता था। अतः उनके विद्रोहों का उद्देश्य इन अतिक्रमणकारियों को निकाल बाहर करना था।

सिंहभूम तथा मानभूम

ढाल-विद्रोहः- झारखंड में अंग्रेजों का प्रवेश सर्वप्रथम सिंहभूम-मानभूम की ओर से हुआ। उनके विरुद्ध प्रथम विद्रोह भी इसी क्षेत्र में हुए। 1767 ई० में सिंहभूम में अंग्रेजों के प्रवेश के तत्काल बाद ढालभूम के अपदस्थ राजा जगन्नाथ ढाल के नेतृत्व में एक व्यापक विद्रोह हुआ। यह विद्रोह दस वर्षों तक चलता रहा। अंततः 1777 ई० में कम्पनी-सरकार को जगन्नाथ ढाल को पुनः ढालभूम का राजा स्वीकार करना पड़ा।

चुआर-विद्रोहः- बिहार तथा बंगाल में कम्पनी-शासन के आरंभ में जंगल महाल के भूमिजों को सरकारी अफसर 'चुआर' कहते थे। ये चुआर सम्पूर्ण इलाके में उपद्रव मचाते रहते थे। अतः उनके विभिन्न विद्रोहों को एक साथ चुआरी-विद्रोह कहा गया है। सबसे पहले 1769 ई० में बड़ाभूम और घाटशिला के बीच के पहाड़ी प्रदेश के भूमिजों ने खुलेआम विद्रोह किया और काफी गड़बड़ी फैलायी। उन्हें दबाने के लिए बंसिटार्ट के आदेश से ले० नन को सिपाहियों, की तीन कम्पनियों के साथ भेजा गया। बाद में उत्तर में पंचेत और पाटकोम तथा दक्षिण-पश्चिम में सिंहभूम के चुआर भी विद्रोहियों से मिल गये। 500 चुआरों ने घाटशिला पर हमला किया और वहाँ के जमींदार और कम्पनी के सिपाहियों को भाग कर नरसिंह गढ़ में शरण लेनी पड़ी। अब कप्तान फोरबिस को दो कम्पनियों के साथ कम्पनी के सिपाहियों को छुड़ाने तथा चुआरों को भगाने के लिए भेजा गया। नन और फोरबिस ने सिपाहियों की पाँच कम्पनियों तथा दो छोटी तोपों की सहायता से चुआरों को काफी नुकसान पहुँचा कर पहाड़ों में खदेड़ दिया।

निष्कर्ष

औपनिवेशिक शासन, साहुकार और जमींदार की दुरभि-संधि ने आदिवासियों की पहचान को कहीं कम तो कहीं ज्यादा नष्ट कर दिया था। वस्तुतः जातिगत नैकट्य भावना का इन विद्रोहों से घनिष्ठ संबंध था। विद्रोही अपने को एक पृथक योद्धा-वर्ग न मानकर एक संघर्षशील जनजातीय समूह मानते थे। समूह-स्तर पर उच्चस्तरीय एकता दृष्टिगत होती थी। आदिवासी स्वजनों पर तभी हमले होते थे जब वे शत्रु से मिले हुए जान पड़ते थे। वाह्य लोगों पर भी शत्रु मान कर हमले नहीं होते थे। गाँवों की अर्थ-व्यवस्था में सहयोग करने वाले गैर-आदिवासी वर्गों पर भी हमले नहीं होते थे, जैसे तेलियों, लोहारों, ग्वालियों, बड़इयों, कुम्हारों, घासियों, धोबियों, नाइयों, बजनियों, बंधुआ मजदूरों अथवा घरेलू-सेवकों इत्यादि पर। उन्होंने केवल बख्शा जाता था बल्कि उन्हें सहयोगी समझा जाता था। अनेक अवसरों पर

गैर-आदिवासी गरीब ग्रामीण भी विद्रोहियों का साथ देते थे और रसद आदि से सहायता करते थे। लोहार विद्रोही दलों का साथ देते हुए उनके अस्त्र-शस्त्रों को चमकाते हुए देखे जा सकते थे। यह स्मरणीय है कि विद्रोह का आह्वान दिक्कूओं, पुलिस तथा राजस्व अधिकारियों और जमींदारों के खिलाफ होता था। यह दूसरी बात है कि अपने आक्रोश की अभिव्यक्ति के क्रम में वे औपनिवेशिक कम्पनी-शासन तथा दिक्कू-अतिक्रमण के स्वरूप, संगठन तथा वर्ग-संरचना को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण दिक्कू मित्रों तथा शत्रुओं की सही पहचान न कर पाते थे। यह बात उनके वर्तमान आन्दोलनों में भी दिखायी पड़ती है।

संदर्भ

1. फरमिंगर, मिदनापुर, II (1915), न० 499 और 503, बंसिटार्ट रसेल को, दि० 14 दिसम्बर, 1769
2. वही न० 510, बंसिटार्ट फोरबिस को, 8 जनवरी, 1770
3. वही न० 512, बंसिटार्ट रसेल को, 19 जनवरी, 1770, न० 533, बंसिटार्ट नन को, 31 मार्च, 1770
4. वही, न० 520, बंसिटार्ट गुडयार को, 7 फरवरी, 1770
5. फरमिंगर, वही, III गुडयार बेबर को दि० डूमजोर, 17 जनवरी, 1771
6. प्राइस, वही, बेबर गुडयार को दि० मिदनापुर, 9 जनवरी, 1771
7. प्राइस, वही, गुडयार मिदनापुर के रेजिडेंट को, दि० घाटशिला, 20 मार्च, 1771
8. एस० बी० चौधरी, सिविल डिस्ट्रिक्टसेज, पृ० 68-69